

# आखिर हम करें क्या?

लेखक

**डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

प्रकाशक

**पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट**

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण :

5 हजार

( 25 अप्रैल, 2019 ई. )

मूल्य : छह रुपये

टाइपसेटिंग :

त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,

ए-4, बापूनगर, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण में कीमत करनेवाले दातारों की सूची

1. श्रीमती किरण आनन्दकुमारजी रपरिया, भिण्ड	1,000
2. सुजाता जैन, विदिशा	1,000
3. शीलादेवी जैन, विदिशा	1,000
4. श्री वीनूभाई रायचन्द शाह, मुम्बई	1,000
4. श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. श्री अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	501
कुलयोग	<b>4,501</b>

मुद्रक :

रैनवो ऑफसेट प्रिंटर्स

बाईस गोदाम, जयपुर

## प्रकाशकीय

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की नवीनतम कृति 'आखिर हम करें क्या?' का प्रकाशन करते हुए हम गौरव का अनुभव कर रहे हैं।

अनेक वर्षों से स्वाध्याय करनेवाले अध्यात्मप्रेमी आत्मार्थी, जनसामान्य का यह प्रश्न है कि इतने वर्षों से प्रयत्न करने पर भी हमें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, तो फिर आखिर हम करें क्या? - इसी प्रश्न का समाधान डॉ. भारिल्लजी ने अपनी चिर-परिचित शैली में आगम के आलोक में तर्क-युक्तिपूर्वक सरल भाषा में 'आखिर हम करें क्या?' इस कृति में देने का सफल प्रयास किया है।

श्रमण-शतक, तत्त्वचिन्तन और क्रमनियमितपर्याय इन तीन रचनाओं को पद्य में लिखने के पश्चात् पुनः तत्त्वनिर्णय पूर्वक आत्मानुभूति का मार्ग स्पष्ट करने के लिए आपने 'आखिर हम करें क्या?' नामक यह कृति गद्य में लिखी। एक तरह से पद्य में लिखे अपने भावों को ही और विशेष स्पष्ट करने के लिए उन्हीं की गद्य टीका आपने लिखी है।

यदि हम इन पद्य रचनाओं को पढ़कर यह पुस्तक पढ़ेंगे तो हमें विशेष लाभ होगा और यह कृति पढ़ने पर पुनः पद्य रचनाओं को पढ़ेंगे तो उनका और विशेष भाव हमारे ज्ञान में आयेगा।

आपके उक्त कार्य के प्रकाशन में पण्डित शान्तिकुमारजी पाटील और अच्युतकान्त शास्त्री का भी महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। अतः हम इनके आभारी हैं।

सुन्दर टाईप सैटिंग के लिए श्री कैलाशचन्द शर्मा तथा आकर्षक मुखपृष्ठ और प्रकाशन के लिए श्री अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं।

इस कृति के माध्यम से आखिर हम करें क्या? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त कर हम अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें - इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

२४ अप्रैल २०१९ ई.

- ब्र. यशपाल जैन, प्रकाशन मंत्री

## इतना तो करें हम!

जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए हरसंभव प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिलने पर चित्त में एक ही प्रश्न उठता ही है कि इस कार्य की सफलता के लिए ‘आखिर हम करें क्या?’

उसीप्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में भी आत्मार्थी बन्धु आत्मानुभूति के लिए सदाचारमय जीवन के साथ देवदर्शनादि श्रावक के कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वाध्याय भी करते हैं, तत्त्व का चिन्तन-मनन करते हैं, ध्यान भी करते हैं – इत्यादि हरसंभव प्रयास करने पर भी सफलता हाथ नहीं आती है, तो उनका भी यही प्रश्न रहता है कि ‘आखिर हम करें क्या?’

इसी प्रश्न का आगम के आलोक में तर्क-युक्ति-दृष्टान्तपूर्वक सरल-सहज भाषा में प्रायोगिक समाधान देने का डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने ‘आखिर हम करें क्या?’ नामक इस कृति में सफल प्रयास किया है।

मन की अस्वस्थता तो निश्चित ही तन को अस्वस्थ कर देती है; लेकिन तन की अस्वस्थता मन को अस्वस्थ करे ही – यह जरूरी नहीं है।

वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति ही तन की अस्वस्थता होने पर मन से भी अस्वस्थ होकर आकुल-व्याकुल होते हैं। बचपन से ही जिनधर्म के संस्कारों से सहित जिनागम का अध्ययन करनेवाले और पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का सान्निध्य प्राप्त होने के बाद, तत्त्वज्ञान का यथार्थ निर्णय कर, आत्मकल्याण की भावना से उस पर जीवनभर अडिग रहनेवाले डॉ. भारिल्ल तन की अस्वस्थता होने पर मन को कैसे अस्वस्थ होने दे सकते हैं। अनेकों बार स्वास्थ्य संबंधी जटिल समस्यायें आने पर भी, वे अपने चिन्तन व श्रद्धान में सदैव दृढ़ रहे हैं। अतः उम्र के इस पड़ाव पर उन्हें जब भी कोई समाधिमरण की बात कहता है तो वे सदैव कहते हैं कि हम तो निरन्तर समाधि में ही है।

विगत फरवरी माह में पुनः गंभीररूप से अस्वस्थ होने पर भी अंतरंग में उनका चिन्तन-मनन चलता ही रहा और जैसे ही थोड़ा स्वस्थ होकर उठने-बैठने व लिखने की स्थिति में आये, तत्काल उनकी लेखनी चल पड़ी और मात्र दो माह की अल्पावधि में **श्रमण-शतक, तत्त्वचिन्तन और क्रमनियमितपर्याय** - ये तीन पद्यात्मक रचनायें उनकी लेखनी से प्रसूत हुई।

किसी कवि की काव्यात्मक रचना में क्या भाव भरे हैं - यह यदि हमें स्वयं उस कवि से सुनने को मिले तो हम उसका समग्रभाव सम्यक् रूप से समझ सकते हैं। ऐसा सौभाग्य किसी-किसी को कभी-कभी ही मिल सकता है; परन्तु यदि वह स्वयं उन भावों को लिखित कर दें, तो फिर वह सभी के लिए सहज उपलब्ध हो सकता है।

डॉ. भारिल्ल भी अपनी गद्य-पद्य रचनाओं का ही अपने व्याख्यानों में जब विशेष विश्लेषण करते हैं, तब हमें स्वयं पढ़ने से जितना लाभ मिलता है, उससे भी अधिक विशेष लाभ अवश्य मिलता है।

उसीप्रकार हमारे आत्मकल्याण के लिए जितनी आवश्यक बातें हैं, उन सभी का सांगोपांग निरूपण उपरोक्त तीन रचनाओं में पद्य में करने के उपरान्त डॉ. भारिल्ल ने इसी विषय को 'आखिर हम करें क्या?' इस शीर्षक से सरल गद्य में प्रस्तुत कर दिया है - यह हमारा परम सौभाग्य है। एक तरह से उन तीन पद्य रचनाओं की यह गद्य टीका है - ऐसा हम कह सकते हैं।

सद्य प्रसूत इन तीन पद्यात्मक रचनाओं का अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए पूर्ण भाव ग्रहण करने हेतु इतना तो करें हम कि 'आखिर हम करें क्या?' इस कृति को पूर्वाग्रह रहित होकर एकाग्रतापूर्वक आद्योपान्त पढ़ें। फिर पद्य रचनाओं को पढ़ें और उसके पश्चात् पुनः इस कृति को पढ़ें - इसप्रकार करते-करते निश्चित ही हमें अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जायेगा।

मोक्षमहल के प्रथम सोपानस्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति जरूरी है। आत्मानुभूति तत्त्वनिर्णयपूर्वक ही होती है और तत्त्वनिर्णय के लिए तत्त्वज्ञानपूर्वक तत्त्वचिन्तन अनिवार्य है।

इसीलिए डॉ. भारिल्ल ने 'तत्त्वचिन्तन' नामक अपनी कृति में सातों तत्त्वों का विशेष विश्लेषण करते हुए पुण्य के संदर्भ में हमारा क्या यथार्थ चिन्तन होना चाहिए – इस पर विशेष प्रकाश डाला है। तत्त्वचिन्तन से तत्त्वनिर्णय तक कैसे पहुँचा जा सकता है – इसका भी सुन्दर विवेचन है।

इसप्रकार तत्त्वचिन्तन करते हुए भी जब किसी को तत्त्वनिर्णयपूर्वक आत्मानुभूति नहीं होती है, तब वह विचलित हो जाता है। यह नहीं समझता है कि तत्त्व का स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में यथार्थरूप से आने पर भी मुझे तत्त्वनिर्णय 'करना' है – ऐसे कर्तृत्व के विकल्प से वह मुक्त नहीं हो पाता है। उसे ही निर्भर करने के लिए समयसार गाथा-३०८ से ३११ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति टीका में समागत –

**'जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः।'**

इस पंक्ति को आधार बनाकर 'क्रमनियमितपर्याय' नामक कृति लिखी। इस कृति में आपने आगम-तर्क-युक्ति व दृष्टान्तपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि पर्यायों तो पूर्व निश्चित होने से क्रमनियमित ही हैं, हमारे ज्ञान की कौन सी पर्याय किस ज्ञेय को जानेगी – यह भी अनादिकाल से ही सुनिश्चित है; अतः हमें जानने के विकल्प का भी बोझा न रखते हुए सहज हो जाना है। इतनी सहज, निर्भर व निर्विकल्प हुई परिणति सहज ही स्वभाव सन्मुख होकर आत्मानुभूति रूप परिणत हो सकती है।

अतः इतना तो करें हम कि आत्मकल्याण की भावना से इन सभी कृतियों का पुनः पुनः आलोढ़न कर आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त करें – इसी मंगलभावना के साथ।

दिनांक २३ अप्रैल २०१९ ई.

– डॉ. शान्तिकुमार पाटील

उपप्राचार्य

श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

जयपुर-३०२०१५

## आखिर हम करें क्या?

( दोहा )

आखिर अब हम क्या करें इतना हमें बताव।

हम अपने में जात हैं तुम अपने में जाव ॥ १॥

साम्यभाव धारण करो छोड़ो सभी विकल्प।

भजो अकर्त्ताभाव को हो जावो अविकल्प ॥ २॥

इस महा सत्य से तो हम सभी भलीभाँति परिचित ही हैं कि आज तक जितने भी आत्मा परमात्मा बने हैं; वे सभी एक ध्यान की अवस्था में ही बने हैं। जो भी जीव; रागी से पूर्ण वीतरागी, अल्पज्ञ से सर्वज्ञ और अनन्त दुखी से अनन्त सुखी हुये हैं; वे सब भी एकमात्र ध्यान की अवस्था में ही हुये हैं। इससे यह तो अत्यन्त स्पष्ट ही है कि एकमात्र धर्म; ध्यान ही है, आत्मध्यान ही है।

वैसे तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी ध्यान ही हैं; तथापि यहाँ जिस ध्यान की बात चल रही है; वह न तो आर्त्तध्यानरूप है और न रौद्रध्यानरूप; क्योंकि वे क्रमशः तिर्यच और नरक गति के कारण हैं और न यहाँ उन शुक्लध्यानों की ही बात है, जो साक्षात् मुक्ति के कारण हैं और चौथे काल में ही होते हैं।

यहाँ तो उस धर्मध्यान की बात है; जो मोक्षमार्गरूप है, पंचमकाल के जीवों के होता है और चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होता है।

धर्मध्यान चार प्रकार के हैं - १. आज्ञाविचय २. उपायविचय या अपायविचय ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय।

इनका जो स्वरूप जिनागम में उपलब्ध है, वह सब विशेषकर स्वाध्यायरूप ही है। पर वे चार प्रकार के धर्मध्यान विकल्पात्मक होने से व्यवहार धर्मध्यानरूप ही हैं।

आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान में चरणानुयोग में प्राप्त जिनाज्ञा का चिन्तन किया जाता है, जिसके आधार पर श्रावकों और मुनिराजों का आचरण सुनिश्चित होता है। उपायविचय या अपायविचय धर्मध्यान में द्रव्यानुयोग में प्राप्त तत्त्वज्ञान का एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मुक्तिमार्ग का और विपाकविचय तथा संस्थानविचय धर्मध्यान में करणानुयोग में समागत कर्मसिद्धान्त और जैनदर्शन संबंधी भूगोल का चिन्तन होता है।

इसप्रकार यह धर्मध्यान एकप्रकार से स्वाध्याय रूप ही है। स्वाध्याय में इनका अध्ययन और धर्मध्यान में इनका चिन्तन-मनन अधिक होता है। यद्यपि स्वाध्याय में भी चिन्तन तो होता है; तथापि ध्यान में उसकी मुख्यता रहती है। स्वाध्याय के पाँच भेदों में भी अनुप्रेक्षा नामक एक भेद है, जो चिन्तनरूप ही है।

स्वाध्याय में बाह्य प्रवृत्ति अधिक है और ध्यान में सब कुछ अंतरंग ही है।

मुनिराजों के स्वरूप में ज्ञान (स्वाध्याय) और ध्यान को प्रमुखता दी गई हैं। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

“ज्ञान-ध्यान-तपो रक्त तपस्वी स प्रशस्यते”

ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी प्रशंसा योग्य है।”

यद्यपि स्वाध्याय या स्वाध्याय रूप धर्मध्यान भी हमें करना ही है; तथापि अभी हम यहाँ उस धर्मध्यान की बात कर रहे हैं कि जो मुक्तिमार्ग में आता है और जिसे तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद आजीवन मौनव्रत धारण करके एकान्त में करते हैं। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये भी जो आवश्यक है, अनिवार्य है। सम्यक्त्व प्राप्त होने के पूर्व जिनका होना

१. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १० उत्तरार्द्ध।



आवश्यक है, ऐसे करणलब्धि रूप परिणाम भी जिसका एक रूप है।

उक्त ध्यान का क्या स्वरूप है? वह कैसे किया जाता है? क्योंकि कुछ करने, बोलने और सोचने का तो उक्त ध्यान में निषेध किया गया है।

परमध्यान का स्वरूप जो मुनिवर श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव ने द्रव्यसंग्रह में प्रस्तुत किया है; वह इसप्रकार है -

( गाथा )

मा चिद्दुह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवेज्झाणं ॥ ५६॥

( हरिगीत )

बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो ।

उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो ॥ ५६॥

कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी चिन्तवन मत करो। इससे अपना आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर हो जायेगा। यही स्थिरता ही परमध्यान है।

उक्त गाथा की टीका लिखते हुये श्री ब्रह्मदेव लिखते हैं -

“हे विवेकीजनो! नित्य, निरंजन और निष्क्रिय निज शुद्धात्मा की अनुभूति को रोकने वाले शुभाशुभ चेष्टारूप काय व्यापार, शुभाशुभ अन्तर्बहिर्जल्परूप वचन व्यापार और शुभाशुभ विकल्पजालरूप चित्त व्यापार रंचमात्र भी मत करो।

ऐसा करने से यह आत्मा तीन योग के निरोध से स्वयं में स्थिर होता है।”

देखो, यहाँ टीकाकार ब्रह्मदेव शुभाशुभ काय चेष्टारूप व्यापार, शुभाशुभ अन्तर्बहिर्जल्परूप वचन व्यापार और शुभाशुभविकल्पजल्परूप चित्त (मन) व्यापार को शुद्धात्मा की अनुभूति को रोकने वाला बता रहे

हैं; क्योंकि ध्यान शुद्धभाव रूप है और शुभाशुभ भाव अशुद्धभावरूप हैं।

आगे टीका में लिखते हैं -

“सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रयात्मक परमसमाधि से उत्पन्न, सर्वप्रदेशों में आनन्द उत्पन्न करनेवाले सुख के आस्वादरूप परिणति सहित, निजात्मा में रत-परिणत-तल्लीन-तच्चित्त-तन्मय होता है।

आत्मा के सुखस्वरूप में तन्मयपना ही निश्चय से परमध्यान है, उत्कृष्ट ध्यान है। उस परमध्यान में स्थित जीवों को जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप है।

वह अन्य किस-किस पर्यायवाची नामों से कहा जाता है; अब यह कहते हैं -

वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेश-प्रगटतारूप विवक्षित-एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्मा के संवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादिमल रहित होने के कारण परमहंसस्वरूप है।

इस एकदेश व्यक्तीरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्मध्यान-भावना की नाममाला में यथासंभव सर्वत्र योजन करना।

वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुस्वरूप है, वही परमशिवस्वरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परमस्वात्मोप-लब्धिलक्षण सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है।

वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परमावस्थास्वरूप है।

वही परमात्मा का दर्शन है, वही परमात्मा का ज्ञान है, वही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्येयभूतशुद्धपारिणामिक-

भावरूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, वही शुद्धचारित्र है, वही परमपवित्र है।

वही अंतःतत्त्व है, वही परमतत्त्व है, वही शुद्धात्मद्रव्य है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्मा की संवित्ति है, वही स्वरूप की उपलब्धि है, वही नित्यपदार्थ की प्राप्ति है, वही परमसमाधि है।

वही परमानन्द है, वही नित्यानन्द है, वही सहजानन्द है, वही सदानन्द है, वही शुद्धात्मपदार्थ के अध्ययनरूप है, वही परमस्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिंतानिरोध है, वही परमबोध है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है।

वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चय-षड्-आवश्यक स्वरूप है, वही अभेदरत्नत्रय स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है।

वही परम शरण-उत्तम-मंगल है, वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय-चतुर्विध-आराधना है, वही परमात्मा की भावना है, वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परमकला है, वही दिव्यकला है, वही परम अद्वैत है।

वही परम अमृतरूप परमधर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादिविकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम स्वास्थ्य है, वही परम वीतरागपना है, वही साम्य है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम समरसीभाव है।

इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि से रहित परम-आह्लादरूप एक सुख जिसका लक्षण है - ऐसे ध्यानरूप निश्चय-मोक्षमार्ग के वाचक अन्य भी पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य हैं।।५६।।”

उक्त सम्पूर्ण स्पष्टीकरण से एक बात तो अत्यन्त स्पष्ट ही है कि यद्यपि आत्मध्यान, समाधि, स्वसंवेदनज्ञान, आत्मानुभूति, शुद्धोपयोग, वीतरागसामायिक आदि पद (शब्द, नाम) एकमात्र उक्त ध्यान के ही वाचक हैं, प्रतिपादक हैं; तथापि आत्मानुभूति, आत्मध्यान, सामायिक और शुद्धोपयोग - ये नाम अधिक प्रयोग में आते हैं।

इनमें भी मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये या सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद चौथे-पाँचवें गुणस्थान में होनेवाले आत्मोन्मुखी भावों को आत्मानुभूति या आत्मानुभव नाम से अभिहित किया जाता है और भावलिङ्गी सन्तों को प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त्त में होनेवाले आत्मोन्मुखी अन्तर्लीन भावों को शुद्धोपयोग या ध्यान नाम से अभिहित किया जाता है।

जिनागम में कहा गया है कि सभी भावलिङ्गी सन्त हर अन्तर्मुहूर्त्त में छठवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में और सातवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में जाते-आते रहते हैं।

उक्त आत्मानुभूति या आत्मध्यान प्राप्त करने के लिये अध्यात्म में रुचि रखने वाले प्रत्येक ज्ञानी-अज्ञानी सभी आत्मार्थी निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। उनको ध्यान में रखकर ही यह विश्लेषण किया जा रहा है।

प्रत्येक आत्मार्थी यह चाहता है कि मुझे इसी भव में देह छूटने के पहिले देह से भिन्न भगवान आत्मा के दर्शन हो जावें, आत्मानुभूति हो जावे, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे।

न केवल चाहते हैं; अपितु तदर्थ निरन्तर प्रयत्नशील भी रहते हैं। आत्मध्यान के आसनों की अवस्था में बैठकर णमोकार मंत्र आदि मंत्रों का उच्चारण करते हैं, स्तोत्रों का पाठ करते हैं, आत्मा-परमात्मा के बारे में सोचते हैं; और भी उन्हें जो आवश्यक लगता है, करते हैं; पर उनकी यह शिकायत बनी ही रहती है कि हमने तो खूब प्रयत्न किया, पर कुछ हुआ नहीं, आत्मा के दर्शन नहीं हुये, आत्मानुभव नहीं हुआ।

वे निराश हो जाते हैं, उनका उत्साह भंग हो जाता है, वे तनावग्रस्त हो जाते हैं, डिप्रेशन में आ जाते हैं।

ऐसे लोग जब यह सुनते हैं कि ध्यान तो उस स्थिति का नाम है; जिसमें न तो कुछ किया जाता है, न कुछ बोला जाता है और न कुछ सोचा जाता है।

तो वे एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। उन्हें कुछ नहीं सूझता, कुछ समझ में नहीं आता और वे सोचने लगते हैं कि **आखिर हम करें क्या?** उन्हें उक्त स्थिति से उबारने का यह एक सहज प्रयास है।

ऐसे अनेक लोग हमारे पास आते हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो आत्मानुभूति नहीं होने पर भी घोषित कर देते हैं कि मुझे (उन्हें) आत्मानुभूति हो गई है। दश-पाँच लोग उनके चक्कर में आ जाते हैं। उनका एक गुट बन जाता है और उनकी दुकान चलने लगती है।

उन्हें न तो आत्मा का सही स्वरूप ही ज्ञात होता है और न यह पता होता है कि आत्मानुभूति का स्वरूप क्या है? आत्मानुभव प्राप्त होने की प्रक्रिया क्या है और उसका क्रम क्या है; आत्मानुभूति सम्पन्न व्यक्ति का आचरण-व्यवहार कैसा होता है?

उन्हें जिनागम का यथोचित् अभ्यास भी नहीं होता।

ऐसे लोगों के लिये मैंने 'ध्यान का स्वरूप' एवं 'रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का' नामक कृति में बहुत कुछ स्पष्ट किया है।

‘मैं कौन हूँ’ नामक कृति में भी उक्त विषय के सन्दर्भ में लिखे गये पाँच लेख छपे हैं।

आत्मानुभव की रुचि रखनेवाले आत्मार्थियों को उक्त कृतियों का आलोड़न अवश्य करना चाहिये।

उक्त सन्दर्भ में मैंने अभी-अभी द्रव्यसंग्रह महामण्डल विधान की जयमाला में भी लिखा है, जो इसप्रकार है -

( रेखता )

“अरे निज आतम को पहिचान आतमा में अपनापन करें।  
अरे अपने आतम को जान उसी में अपनेपन से जमे॥  
यही है निश्चय सम्यग्दर्श यही है निश्चय सम्यग्ज्ञान।  
रतन त्रय शामिल हो जाते करो यदि इक आतम का ध्यान॥ १०॥

काय चेष्टा कुछ भी मत करो और कुछ भी ना बोलो बोल।  
और ना कुछ भी सोचो भाई! एक आतम में रमो अमोल॥  
यही है निश्चय सम्यग्ज्ञान यही है निश्चय सम्यक् ध्यान।  
यही है परम शुद्ध उपयोग यही है अद्भुत कार्य महान॥ ११॥

यही है परम समाधीयोग यही है परमतत्व की लब्धि।  
यही है आतम की संवित्ति यही है आतम की उपलब्धि॥  
यही है परम भक्ति का भाव यही है निर्विकल्प आनन्द।  
यही है परम समरसीभाव यही है परमशुद्ध आनन्द॥ १२॥

यही है परम शुद्धचारित्र यही है स्वसंवेदन ज्ञान।  
यही है स्वस्वरूप उपलब्धि यही है परमशुद्ध विज्ञान॥  
यही है दिव्यध्वनि का सार यही है परमतत्व का बोध।  
जगत में इसके बिन कुछ नहीं यही एकाग्र चित्त का रोध॥ १३॥

यही एकाग्रचित्त का रोध यही है अपनेपन का बोध।  
यही है उपयोगी उपयोग यही है योगिजनों का योग॥  
इसी को कहते हैं सब लोग मिला है यह अद्भुत संयोग।  
स्वयं को जानो मानो जमो यही है परमतत्त्व का बोध॥ १४॥

स्वयं को जानो, जानो नहीं जानना होने दो तुम सहज।  
जानने का तनाव मत करो जानते रहो निरन्तर सहज॥  
अरे करने-धरने का बोझ उतारो हो जावो तुम सहज।  
जानने के तनाव से रहित जानना होने दो तुम सहज॥ १५॥

जानना होने दो तुम सहज जानने के विकल्प से पार।  
और तुम हो जावो निर्भार भाड़ में जानो दो तुम भार॥  
भाड़ में जाने दो तुम भार करो तुम अपने में निर्धार<sup>१</sup>।  
यदि बनना चाहो भगवान उन्हीं-से<sup>२</sup> हो जावो निर्भार॥ १६॥

उन्हीं-से हो जावो निर्भार उन्हीं-से हो जावो निर्ग्रन्थ।  
चाहते हो तुम भव का अंत शीघ्र ही छोड़ो जग का पंथ॥  
सहजता जीवन का आनन्द यही है परमागम का पंथ।  
चलो तुम परमागम के पंथ शीघ्र आवेगा भव का अंत॥ १७॥

शीघ्र आवेगा भव का अन्त प्रगट होगा आनन्द अनन्त।  
ज्ञान-दर्शन भी होंगे नंत वीर्य भी होगा अरे अनन्त॥  
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द।  
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अरे भोगोगे काल अनन्त॥ १८॥<sup>३</sup>

उक्त छन्दों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है कि - आत्मध्यान में, परमसामायिक में यद्यपि कुछ करना नहीं है, कुछ बोलना भी नहीं

१. सोच-समझकर निश्चित करना

२. उनके समान ही

३. द्रव्यसंग्रह महामण्डल विधान जयमाला, पृष्ठ-४२-४३

है, कुछ सोचना भी नहीं है; तथापि जानना तो सहज होता ही रहता है, होता ही रहेगा; अतः यह सोचना सही नहीं है कि जब करना, बोलना, सोचना सब कुछ बन्द करना ही ध्यान है तो फिर ध्यान में होगा क्या? क्या आत्मा निराश्रय नहीं हो जायेगा, निठल्ला नहीं हो जायेगा?

नहीं होगा, न निराश्रय होगा, न निठल्ला होगा; क्योंकि सहज जानना तो होता ही रहेगा। जानना आत्मा का सहज स्वभाव है; वह तो निरन्तर होता ही रहता है।

काया से कुछ करना, वाणी से कुछ बोलना और मन से सोचना – ये सब तो पुद्गल की पर्यायें हैं, पुद्गल के कार्य हैं।

काया से कुछ करना आहारवर्गणा का कार्य है, वाणी से कुछ बोलना भाषावर्गणा का कार्य है और सोचना मनोवर्गणा का कार्य है। आत्मा का कार्य तो जानना-देखना है, जो क्रमशः ज्ञान-दर्शन गुण की पर्यायें हैं।

आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा – ये सभी पुद्गल की पर्यायें हैं। पुद्गल द्रव्य अजीव द्रव्य है, जो जीव से एकदम भिन्न है। अपने आत्मा से एकदम भिन्न है। अपने आत्मा और इन पौद्गलिक वर्गणाओं के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार है। इनका कर्त्ता-धर्त्ता आत्मा नहीं है।

इसपर वह कहता है कि – जानने का काम तो करें। जानने के लिये भी तो यह निर्णय करना होगा कि किसको जानें, किसको न जानें?

अनादिकाल से यह आत्मा पर को जानने में लगा है। पर को जानना छोड़कर उसे अपने को जानने में लगावें। इसके लिये भी तो कुछ करना पड़ेगा, एक आसन पर स्थिर होकर बैठना होगा, कुछ सोचना-विचारना होगा, कुछ समझ में नहीं आया तो किसी से कुछ



पूँछना होगा; पर आप तो कहते हैं कि कुछ चेष्टा भी मत करो, कुछ बोलो भी नहीं और कुछ सोचो भी नहीं।

अरे भाई! यह सब हम थोड़े ही कह रहे हैं। यह सब तो ध्यान का स्वरूप स्पष्ट करते हुये वीतरागी मुनिराज स्वयं कह रहे हैं।

यह सब बातें तो द्रव्यसंग्रह की मूल गाथा में है। एक हजार वर्ष पहले प्राकृत भाषा में लिखी गई मूलगाथा में यह सब लिखा है। असली ध्यान में; करना, बोलना, सोचना – यह सब कुछ है ही नहीं।

ध्यान की पूर्व भूमिका में यद्यपि यह सब होता है; तथापि ध्यान की वास्तविक स्थिति में यह कुछ नहीं होता।

ध्यान तो एकमात्र जानने रूप ही है। जानना ज्ञान है और जानते रहने का नाम ध्यान है, लगातार जानते रहने का नाम ध्यान है। ज्ञान की स्थिरता ही ध्यान है।

जब भी समाधि की बात आती है तो हमारा ध्यान समाधिमरण की ओर चला जाता है और हम मरण के बारे में ही सोचने लगते हैं।

समाधि का अर्थ तो समताभाव होता है, स्वयं में जमा जाना होता है। यदि यह समताभाव मरण के समय हो, मरण के समय हम स्वयं में समा जाँय तो उसे हम समाधिमरण कह देंगे।

अरे, भाई! समाधि तो जीवन का स्वरूप है। हमें तो समाधिपूर्वक जीना है। हमारा जीवन समाधिमय होना चाहिये, समताभावमय होना चाहिये। यह समताभाव मरण के समय भी बना रहे तो और भी अच्छी बात है।

यह साम्यभाव ही सच्चा धर्म है, वीतरागभाव है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में मंगलाचरण के बाद तत्काल कहते हैं –

‘उवसंपयामि सम्मं जत्तो निव्वाणसंपत्ती।’<sup>१</sup>

निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ।

मैं उस साम्यभाव को प्राप्त करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इसकी तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

“निर्वाणसंप्राप्ति हेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये -  
निर्वाण प्राप्ति का हेतुभूत वीतरागचारित्र नाम से प्रसिद्ध साम्यभाव को प्राप्त करता हूँ।”

यह साम्यभाव ही समाधि है, शुद्धोपयोग है, ध्यान है आत्मलीनता है। जो कुछ है, सब कुछ यही है। हमें यही प्राप्त करना है।

यह साम्यभाव ही निश्चय रत्नत्रय है; सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है। इसे प्राप्त करना ही हमारा चरम लक्ष्य है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं।  
(१) क्षयोपशमलब्धि (२) विशुद्धिलब्धि (३) देशनालब्धि  
(४) प्रायोग्यलब्धि और (५) करणलब्धि।

**१. क्षयोपशमलब्धि** - ज्ञान का इतना उघाड़ (व्यक्तता) होना कि आत्मा समझ में आ जाय। प्रत्येक सैनी पंचेन्द्रिय को ज्ञान का इतना उघाड़ होता है, इतना क्षयोपशम होता है कि आत्मा समझा जा सके। चारों गतियों के प्रत्येक पंचेन्द्रिय में इतना ज्ञान प्रगट होता है कि वह आत्मा को समझ सके।

**२. विशुद्धिलब्धि** - कषायों की ऐसी मन्दता कि जिसमें आत्मा

१. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार गाथा ५ का उत्तरार्द्ध

को समझने की पात्रता जगे; सबकुछ छोड़कर एक आत्मा को जानने की तीव्र इच्छा हो।

यदि क्षयोपशमलब्धि नहीं होगी तो समझाने पर भी आत्मा **समझ में** नहीं आयेगा और यदि विशुद्धिलब्धि नहीं होगी तो वह आत्मा को **समझने** ही नहीं आवेगा।

मात्र 'समझ में' और 'समझने' का ही अन्तर है; क्योंकि ज्ञान के उघाड़ बिना **समझ में** नहीं आयेगा और कषाय की मन्दता के बिना **समझने** नहीं आयेगा। तात्पर्य यह है कि वह विषय-कषाय में इतना उलझा होगा कि उसे समझने आने की फुरसत ही नहीं मिलेगी।

**३. देशनालब्धि** – आत्मा को समझने योग्य ज्ञान का उघाड़ और विषय-कषाय छोड़कर आत्मा को समझने की तीव्र जिज्ञासा हो और फिर आत्मा को जानने वाले सद्गुरु का समागम प्राप्त हो तो आत्मा का सही स्वरूप समझ में आने की बात बन सकती है।

जिस आत्मा का ध्यान करना है, अनुभव करना है; उसे समझाने में कुशल ज्ञानी गुरु के समझाने पर यदि हम प्रयत्न करें तो विकल्पात्मक ज्ञान में आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ में आ सकता है।

आत्मानुभव या आत्मध्यान करने के लिये सबसे पहले जिनागम और सद्गुरु के माध्यम से विकल्पात्मक ज्ञान में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये।

उक्त तीनों लब्धियों की चर्चा करते हुये मैंने विनयपाठ में लिखा है; जो इसप्रकार हैं –

“जिनवाणी के मर्म को अरे जानने योग्य।

ज्ञान प्रगट पर्याय में होवे सहज संयोग” ॥ ११ ॥

और कषायें मन्द हों भाव रहें निष्काम।  
 एक आत्मा में लगे छोड़ हज़ारों काम<sup>१</sup>॥ १२ ॥  
 देव-गुरु संयोग या जिनवाणी के योग।  
 तत्त्व श्रवण में मन लगे और न मन में रोग<sup>२</sup>॥ १३ ॥  
 अरे क्षयोपशम विशुद्धि और देशना लब्धि।  
 जिसके ये तीनों बने उसे तत्त्व उपलब्धि॥ १४ ॥<sup>३</sup>

भले ही ज्ञान का इतना क्षयोपशम हो कि आत्मा समझ में आ सकता है; पर कषायें तीव्र हो, विषय-कषाय की अति प्रगाढ़ रुचि हो तो वह आत्मा के समझने के लिये समय ही नहीं निकालता।

यदि हज़ारों काम छोड़कर एक आत्मा को समझने की रुचि हो तो काम बन सकता है। एक आत्मा को समझने की ऐसी धुन लगी हो कि हर कीमत पर आत्मा को समझने का भाव हो; मन में कोई और व्यसन न हो, राग न हो, आदत न हो; क्योंकि ये सब एक प्रकार से मन के रोग ही हैं।

ज्ञान के क्षयोपशम की और मन की विशुद्धि की ऐसी स्थिति हो और सद्गुरु का समागम प्राप्त हो जाय, सत्शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन, चिन्तन हो तो आत्मा समझ में आ सकता है।

आगम, गुरु और युक्तियों के निमित्त से विकल्पात्मक ज्ञान में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हो जाना अनुभूति के पहले आवश्यक है।

यह सब स्वाध्यायरूप व्यवहार धर्म में सम्पन्न होता है। इसमें स्वाध्याय करना, चर्चा करना और चिन्तन-मनन करना सब कुछ होता है; पर करणलब्धिरूप ध्यान में, शुद्धोपयोगरूप ध्यान में न तो कुछ

१. विशुद्धि लब्धि

२. देशना लब्धि

३. द्रव्यसंग्रह महामण्डल विधान विनय पाठ - पृष्ठ - १९

बोलना होता है, न कुछ सोचना होता है और न कुछ करना होता है।

अभी हम यहाँ उस परमध्यान की बात कर रहे हैं कि जिसमें न कुछ चेष्टा करनी है, न कुछ बोलना है और न कुछ सोचना है।

उक्त परमध्यान में जाने के लिये, उसे प्राप्त करने के लिये; उसके पहले आध्यात्मिक शास्त्रों का गहराई से अध्ययन, आत्मज्ञानीगुरु की वाणी का अत्यन्त रुचिपूर्वक श्रवण आवश्यक है।

आत्मा संबंधी जो जानकारी शास्त्रों के अध्ययन, ज्ञानियों के सत्समागम से प्राप्त हुई है; उसे तर्क की कसौटी पर कसकर, परखकर स्वीकार करना आवश्यक है।

इसके बिना तो हमें यह भी पता नहीं चलेगा कि हम जिस आत्मा को जानना चाहते हैं, निजरूप जानना चाहते हैं, जिसमें अपनापन स्थापित करना चाहते हैं, जिसका ध्यान करना चाहते हैं, अनुभव करना चाहते हैं; वह आत्मा कैसा है, क्या है, कहाँ है?

तात्पर्य यह है कि सबसे पहले तो हमें देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से तत्त्वार्थों का स्वरूप समझना है; देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझना है और दृष्टि के विषयभूत अपने उस भगवान आत्मा का स्वरूप समझना है, जिसमें अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, जिसे निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने का नाम ध्यान है, चारित्र है।

यदि यह सब करना है तो फिर आप यह क्यों कहते हैं कि न कुछ करो, न बोलो और न सोचो?

अरे भाई! यह बात तो उस परमध्यान के समय की बात है; जिसकी यहाँ मुख्यरूप से चर्चा चल रही है। जिसके बारे में कहा गया है कि -

( रेखता )

स्वयं को जानो, जानो नहीं जानना होने दो तुम सहज।  
 जानने का तनाव मत करो जानते रहो निरन्तर सहज॥  
 अरे करने-धरने का बोझ उतारो हो जावो तुम सहज।  
 जानने के तनाव से रहित जानना होने दो तुम सहज॥ ७॥

बनारसीदासजी कहते हैं -

कहे बनारसी सहज का धंधा वाद-विवाद करे सो अंधा।  
 खोजी जीवे वादी मरे ऐसी साँची कहवत है।।

जानने को; सोचने, बोलने और करने से अलग करके तो देखो।  
 अभी तक हम जानने-देखने का व्यापार (कार्य) सोचने, बोलने और  
 करने के साथ करते रहे हैं; एक बार सोचने, बोलने और करने से रहित  
 मात्र जानकर तो देखो, ज्ञान के व्यापार को सहज तो होने दो।

यहाँ कोई कहता है कि - हम क्या जानें और क्या नहीं जानें -  
 इसका निर्णय तो विवेकपूर्वक करना ही होगा।

उससे कहते हैं कि नहीं करना है; क्योंकि ज्ञान की प्रत्येकपर्याय  
 किस ज्ञेय को जाने - इस योग्यता से सम्पन्न होती है।

तीन काल के जितने समय हैं, प्रत्येक जीव के ज्ञानगुण की उतनी  
 ही पर्यायें होती हैं। अनादिकाल से ही यह सुनिश्चित है कि कौन सी  
 पर्याय किस ज्ञेय को जानेगी। इसका निर्णय आपको नहीं करना है;  
 इसका बोझा भी अपने माथे पर नहीं रखना है, इसे भी उतार कर  
 फेंकना है।

यद्यपि वह जानना आपका परिणामन है; अतः यः परिणमति सः

**कर्त्ता** – जो परिणामित होता है, वह उस परिणामन का कर्त्ता है। इस नियम के अनुसार आप ही उक्त परिणामन के कर्त्ता हैं; तथापि उस परिणामन में आपको कुछ करने का विकल्प नहीं करना है; कुछ सोचना नहीं है, कुछ बोलना नहीं है, कुछ करना भी नहीं है।

तात्पर्य यह है कि सोचने, बोलने और करने का विकल्प नहीं करना है; अपने माथे पर कुछ बोझ नहीं रखना है, तनाव नहीं रखना है, एकदम सहज रहना है। सहज भाव से जानने-देखते रहना है, फेरफार करने का विकल्प नहीं करना है, सहजभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना है।

इसी का नाम ध्यान है, धर्म है, वीतरागभाव है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन है, सम्यक्चारित्र है, मुक्ति का मार्ग है।

इसमें जीव को कुछ करना नहीं लगता है, जबकि यही सब-कुछ है। पीछे जितने नाम गिनाये हैं, वे सब इसी के नाम हैं। यही असली धर्म है।

जिसप्रकार एक डॉक्टर ऑपरेशन करते समय अपने उपयोग को पूरी तरह मरीज पर ही केन्द्रित रखता है; यहाँ-वहाँ नहीं देखता, अन्य कोई काम नहीं करता, किसी से बात नहीं करता, अन्य विषयों के बारे में सोचता भी नहीं है।

यदि वह बहुत गंभीर ऑपरेशन कर रहा है। तो उस समय उसके पुत्र के मरण का समाचार भी उसे नहीं दिया जाता।

वह भी यही चाहता है कि उसे किसी भी रूप में डिस्टर्ब न किया जाय। यदि ऐसा किया जाता है तो वह अपने काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर पावेगा।

ऐसे ही जब हम आत्मध्यान का काम कर रहे हों; तब हम भी कुछ करने, बोलने और सोचने का विकल्प न करें; अन्यथा हम आत्मध्यान

के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर पावेंगे। आत्मध्यान की, शुद्धोपयोग की, आत्मानुभूति की यही स्थिति है।

जिसप्रकार सिद्धभगवान कुछ नहीं करते, सहज ज्ञाता-दृष्टा ही बने रहते हैं; सबकुछ जानते रहते हैं, देखते रहते हैं, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करते रहते हैं, एकदम सहज शान्त बने रहते हैं।

उसीप्रकार सभी ज्ञानी आत्मा भी आत्मध्यान के काल में, अनुभूति के काल में कुछ नहीं करते, सहज ज्ञाता-दृष्टा बने रहते हैं, सब कुछ जानते-देखते रहते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द का उपयोग करते रहते हैं, एकदम सहज शान्त बने रहते हैं।

यही ध्यान है, यही धर्म है; इसी से अरहंत-सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। यही एकमात्र कर्तव्य है, परम कर्तव्य है। यदि हमें अरहन्त सिद्ध पद की प्राप्ति करना है तो फिर जैसे सहज वे रहते हैं, हमें भी वैसे ही सहज रहने का अभ्यास होना चाहिये। ये करने-धरने के तनाव को लेकर हम शान्त नहीं रह सकते।

किस समय की कौनसी ज्ञानपर्याय किसको जाने, कब जाने - इसका नियामक कौन है?

उक्त सन्दर्भ में बौद्धों का कहना यह है कि जो ज्ञेय सामने होगा, ज्ञानपर्याय सहज से ही उसे ही जान लेगी; इसप्रकार उनका कहना यह है कि ज्ञेय ही ज्ञान का नियामक है, ज्ञेय से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती, ज्ञेयों को ही ज्ञान जानता है और ज्ञान ज्ञेयाकार ही होता है।

उनके इस सिद्धान्त को तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय का सिद्धान्त कहते हैं।

जैनाचार्यों का कहना यह है कि न तो ज्ञेयों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, न ज्ञान ज्ञेयाकार होता है और न ज्ञान ज्ञेयों को जानने वाला होता है।



ज्ञान स्वयं से ही उत्पन्न होता है, स्वयं की योग्यता से ही उत्पन्न होता है; ज्ञान ज्ञानाकार ही होता है और ज्ञान ज्ञान को ही जाननेवाला होता। ज्ञेय भी अपनी योग्यता से, प्रमेयत्व गुण से ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं। ज्ञान में जो ज्ञेयों का आकार दिखाई देता है, वह ज्ञेयों जैसा आकार ज्ञान से ही बना हुआ आकार है। उसमें ज्ञान का ही कच्चा मेटेरियल लगा हुआ है। ज्ञान ने स्वयं से स्वयं में उसका निर्माण किया है। ज्ञान अपनी ज्ञान पर्याय को जानते हैं और उसमें ज्ञेय झलकते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान किस ज्ञेय को जाने - इस बात की योग्यता ज्ञान में अनादि-अनन्त है। इसलिये हमारे माथे पर यह बोझ भी नहीं है कि मैं यह निर्णय करूँ कि मैं किसे जानूँ और किसे नहीं जानूँ।

इसप्रकार यदि हम चाहे कुछ भी, अच्छा-बुरा जानते रहेंगे तो फिर हमें तदनुसार बंध भी होगा?

हाँ, यह बात तो है, पर हम चाहे कुछ भी, चाहे जैसा अच्छा-बुरा क्यों जानते रहेंगे? हम तो वही जानेंगे कि जो उस समय हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनना सुनिश्चित होगा, हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनना होगा।

जब हमने यह निर्णय कर ही लिया है कि ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय सुनिश्चित है तो फिर हम चाहे जो कुछ क्यों जानेंगे? जो हमारी ज्ञानपर्याय में जानना सुनिश्चित होगा, वही जानेंगे।

हमने ऐसा स्पष्ट अनुभव किया है कि हमारे सामने कोई बैठा है, हम उससे बात भी कर रहे हैं; फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारे ज्ञान का ज्ञेय वह नहीं बनता और मुम्बई बैठा हमारा बेटा हमारे ज्ञान का ज्ञेय बन जाता है।

कभी-कभी हमारे ज्ञान का ज्ञेय सींगों वाला गधा भी बन जाता है, जबकि जगत में ऐसा कोई गधा होता ही नहीं है कि जिसके सींग हों।

वास्तविक लोक से ज्ञान का लोक बहुत बड़ा है। कल्पना लोक की वस्तुयें भी ज्ञान में ज्ञेय बनती हैं।

उक्त संदर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र के ज्ञाननय संबंधी प्रकरण का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये।<sup>१</sup>

उक्त संदर्भ में प्रमेयरत्नमाला में समागत यह छन्द दृष्टव्य है -

पिहिते कारागारे तमसि च सूचिमुखाग्रदुर्भेद्ये।  
मयि च निमीलित नयने तथापि कान्ताननं व्यक्तं।।

एक व्यक्ति कहता है कि मुझे जेल की काल कोठरी में बन्द कर दिया गया। जिसमें इतना घना अंधकार है कि सुई के मुख के अग्रभाग से भी नहीं भेदा जा सकता और मैंने आँखें पूरी तरह बन्द कर ली हैं, फिर भी मुझे अपनी पत्नी का मुख साफ दिखाई दे रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो चीज सामने नहीं है, वह भी दिखाई देती है, ज्ञान का ज्ञेय बन जाती है। अतः यह सहज ही सिद्ध है कि ज्ञानपर्याय का जब जो ज्ञेय बनना है, तब वही ज्ञेय बनेगा, अन्य कोई नहीं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ओर तो आप योग्यता को नियामक मानते हैं। परीक्षामुख सूत्र का उदाहरण देते हैं। कहते हैं योग्यता ही यह सुनिश्चित करती है कि अमुक ज्ञान पर्याय अमुक ज्ञेय को ही जानेगी। यह सब आदि से ही सुनिश्चित है।

साथ में यह भी कहते हैं कि वह योग्यता क्षयोपशम लक्षण वाली होना चाहिये। क्षयोपशम एक सुनिश्चित समय पहले ही होता है। वह अनादि-अनन्त तो होता नहीं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न खड़ा होता है कि हमारी ज्ञानपर्याय का ज्ञेय

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र पृष्ठ २७१ से २८६ तक।

अनादिकाल से सुनिश्चित है कि बाद में क्षयोपशम के अनुसार सुनिश्चित होता है?

अरे, भाई! जिसप्रकार हमें अगले भव में कहाँ जन्म लेना है – यह अनादि से भी सुनिश्चित होता है और वर्तमान आयु के त्रिभाग में आगामी आयु कर्म का बंध होता है और उसके अनुसार भी सुनिश्चित होता है।

यदि अनादि से सुनिश्चित नहीं होता तो आदिनाथ यह कैसे बता सकते थे कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर बाद चौबीसवाँ तीर्थकर महावीर होगा तथा एक भव पहले सोलहवें स्वर्ग में रहते हुये उन्होंने मनुष्य आयुकर्म का बंध किया ही था।

पर इनमें परस्पर विरोध नहीं है; क्योंकि हमारी आगामी आयुकर्म का बंध उसी के अनुसार होता है, जिस पर्याय में हमारा जाना अनादि से ही नक्की है।

यहाँ भी यह प्रश्न हो सकता है कि हमारी आगामी आयु का बंध हमारे परिणामों के अनुसार होता है या अनादि सुनिश्चित के अनुसार। हमारे परिणाम भी उस अनादि सुनिश्चितानुसार होते हैं। अतः इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार हमारी ज्ञान पर्याय का ज्ञेय अनादि से तो सुनिश्चित है ही; साथ में सुनिश्चित समय पहले हमारे ज्ञानावरणी कर्म क्षयोपशम भी होता है। इसप्रकार दोनों के अनुसार ही ज्ञानपर्याय का ज्ञेय बनता है। इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है; अपितु सुन्दरतम सुमेल है।

इसप्रकार यह सब सुनिश्चित ही है कि हमारी ज्ञानपर्याय का ज्ञेय अमुक समय में कौन बनेगा? जिसको ज्ञेय बनना है, क्षयोपशम भी उसी के अनुसार ही होगा।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव निर्भय होते हैं; उनकी निर्भयता का आधार वस्तुस्वरूप जान लेना ही होता है।

कविवर बुधजनजी लिखते हैं -

“हमें कछु भय ना रे, जान लियो संसार”

अब हमें किसी भी प्रकार का भय नहीं है; क्योंकि हमने संसार का स्वरूप जान लिया है। उनकी निर्भयता का आधार सुरक्षा की व्यवस्था नहीं है; अपितु संसार का स्वरूप जान लेना है।

वे आगे लिखते हैं -

जा करि जैसे जाहि समय में जो होतव जा द्वारा।

सो बनहै टरिहै कछु नाही कर लीनो निर्धार।।

जिसके द्वारा जिसप्रकार जिस समय जिस निमित्त पूर्वक जो होनहार होना है; वह अवश्य होगी, किसी भी स्थिति में टलेगी नहीं - मैंने ऐसा पक्का निर्णय कर लिया है।

वे उक्त कथन को ही संसार का स्वरूप कहते हैं। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुत्रादि कोई सगा साथी नहीं है। संकट आने पर कोई साथ नहीं देता है। संसार का स्वरूप यह नहीं है, पर वे साथ दे नहीं सकते; क्योंकि एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ नहीं कर सकता और जिस समय जो होना है, वह हो के ही रहता है, उसे कोई टाल नहीं सकता - संसार का वास्तविक स्वरूप तो यह है। उनकी निर्भयता का आधार तो क्रमनियमितपर्याय की सच्ची श्रद्धा है।

हम क्रमनियमितपर्याय की श्रद्धा तो करना नहीं चाहते और लौकिक व्यवस्था के आधार पर निर्भय होना चाहते हैं; जो किसी भी स्थिति में संभव नहीं है।

ध्यान की अवस्था में आत्मा को पूरी तरह निश्चिन्त होना चाहिये। 'सब कुछ सुनिश्चित हैं' वस्तु का यह स्वरूप इसे निश्चिन्त कर सकता है। इसकी सम्यक् श्रद्धा बिना कर्तृत्व के विकल्प टूटते नहीं हैं।

जब हम यह समझाते हैं तो यह एकदम झुंझलाकर कहता है कि 'आखिर हम करें क्या?।

जब हम यह स्पष्ट कहते हैं कि कुछ भी न करो, फिर भी यही कहता है कि आखिर हम करें क्या? 'नहीं करना' इसकी समझ में ही नहीं आता। अतः नहीं करने की बात को करने की भाषा में पूँछता है।

नहीं करने के लिये भी इसे कुछ करना है, कुछ न कुछ करना है। अनादिकालीन कर्तृत्व का संस्कार इतना गहरा है कि उसके विरुद्ध इसे कुछ समझ ही नहीं आता, सुनाई नहीं देता, दिखाई नहीं देता।

नहीं करने रूप ध्यान के लिये भी इसे कुछ न कुछ करना है। यह इसकी कर्मचेतना है, अज्ञान-चेतना है।

करने के प्रति चेतना ही कर्म चेतना है। करने के प्रति यह इतनी गहराई से चेता हुआ है कि इसे नहीं करने रूप समाधि समझ में ही नहीं आती।

चेतना दो प्रकार की होती है -

१. ज्ञान चेतना और २. अज्ञान चेतना।

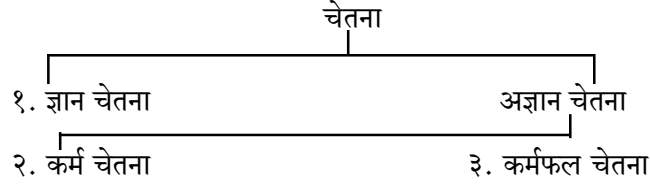
अज्ञान चेतना भी दो प्रकार की होती है -

१. कर्म चेतना और २. कर्मफल चेतना।

इसप्रकार कुल मिलाकर यह चेतना तीन प्रकार की हो गई।

१. ज्ञान चेतना २. कर्म चेतना और ३. कर्मफल चेतना।

इसकी स्थिति को निम्नांकित चार्ट से समझा जा सकता है -



चेतना जाग्रत होने का नाम है। अपने आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र में चेतना ज्ञान चेतना है और कर्म और कर्मफल में चेतना अज्ञान चेतना है। करूँ-करूँ का विकल्प करते रहना, उसी में उलझे रहना कर्म चेतना है और कर्म के फल को भोगने में चेतते रहना कर्मफल चेतना है।

ज्ञानीजनों के ज्ञानचेतना होती है और अज्ञानी जीवों के कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है।

कर्मचेतना वाले जीव निरन्तर कुछ न कुछ करते रहने के विकल्पों में उलझे रहते हैं। उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति करूँ-करूँ की होती है। कर्मफल चेतना वाले जीव जो कुछ भी उपलब्ध होता है, उसे भोगने के विकल्प में ही उलझे रहते हैं। कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि जिनकी वृत्ति और प्रवृत्ति करने और भोगने दोनों में होती है।

आत्मा के सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को सहजभाव से स्वीकार करने वाले ज्ञानीजन ज्ञानचेतना वाले हैं।

ज्ञानीजन पर का कर्ता तो अपने को मानते ही नहीं हैं, अपनी पर्यायों के फेरफार कर्ता भी वे अपने को नहीं मानते। यह श्रद्धा के स्तर की बात है। चारित्रमोह के उदयानुसार उन्हें करने-भोगने के विकल्प आ सकते हैं; तथापि वे श्रद्धा के स्तर पर उनके कर्ता-भोक्ता नहीं बनते।

इसप्रकार जानना, मात्र जानना, सहजभाव से जानते रहना ही ज्ञान चेतना है।

पर क्या करें, 'मात्र जानना' इसकी समझ में ही नहीं आता। शुद्ध (प्योर) ज्ञान भी हो सकता है, यह इसकी समझ के बाहर है। अतः जानना, जानना, सिर्फ जानने में इसे शून्य नजर आता है; जबकि आत्मा का स्वभाव सिर्फ जानना ही है, सिद्धभगवान सिर्फ जानते ही हैं, अनन्तकाल तक वे सिर्फ जानते ही रहते हैं और अनन्त सुखी रहते हैं।

सिर्फ जानते रहने में भी अनन्त सुख हो सकता है - यह इसकी समझ के बाहर की चीज हैं।

मात्र जानने के फल में अनन्तानन्द की प्राप्ति होती है। यह पीछे १८वें छन्द में कहके आये हैं; जो इसप्रकार है -

“शीघ्र आवेगा भव का अन्त प्रगट होगा आनन्द अनन्त।  
ज्ञान-दर्शन भी होंगे नन्त वीर्य भी होगा अरे अनन्त॥  
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द अनन्तानन्द।  
अनन्तानन्द अनन्तानन्द अरे भोगोगे काल अनन्त॥ १८॥<sup>१</sup>

अप्रभावित होकर जानते रहना और जानकर भी अप्रभावित रहना - यह सहजज्ञान की मुख्य विशेषता है। हमारे सभी अरहंत-सिद्धभगवान निरन्तर सबको देखते-जानते रहते हैं; पर उनसे रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होते।

यह तो आप जानते ही हैं कि इस संसार में अनन्त जीव हैं और निरन्तर दुख भोग रहे हैं। उनमें उन अरहंत-सिद्ध भगवान के पूर्वभवों के माता-पिता भी हो सकते हैं, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्रादि भी हो सकते हैं। उन्हें भी वे देखते-जानते रहते हैं। ऐसी स्थिति में भी वे शान्त रहते हैं, अनन्त सुखी रहते हैं।

ध्यान की अवस्था भी ऐसी ही अवस्था है। यदि हमें अरहंत-

१. द्रव्यसंग्रह महामण्डल विधान जयमाला, पृष्ठ-४३

सिद्धभगवान बनना है तो हमें भी इसीप्रकार के ध्यान को करना होगा; एकदम सहज, शान्त, शीतल रहना होगा। हमें भी अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होगी।

आखिर हमें यही करना है। यही धर्म है। इससे अधिक और कुछ नहीं।

एक बार हृदय की गहराई से यह स्वीकृत हो जावे कि सबकुछ सुनिश्चित है, कुछ भी फेर-फार संभव नहीं है। फेर-फार की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि उससे कुछ भी होने वाला नहीं है। तो हमारे चित्त में एकदम हल्कापन आये बिना नहीं रहेगा।

जीवन में सहजता आ जावे - इसका एकमात्र उपाय यही है। और कोई रास्ता नहीं है।

आज मानो, कल मानना; चाहे अनन्तकाल बाद मानना; मानना तो यही पड़ेगा; सुख-शान्ति भी इसी से प्राप्त होगी। यदि सुख-शान्ति चाहिये तो शीघ्रातिशीघ्र इस बात को स्वीकार करो, क्रमनियमित पर्यायों को स्वीकारो और जीवन में सहज सहजता लाओ।

आखिर हम तो यह विचार करके संतोष धारण करते हैं कि हमारे विकल्पों से क्या होता है, तुम्हें क्रमनियमित पर्याय की स्वीकृति तो तभी होगी, जब तुम्हारी उक्त पर्याय प्राप्त करने की होनहार होगी, काललब्धि आयेगी और उक्त दिशा में तुम्हारा पुरुषार्थ जागेगा।

वह दिन तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो - इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

( दोहा )

आखिर अब हम क्या करें इतना हमें बताव।

हम अपने में जात हैं तुम अपने में जाव ॥ १॥

साम्यभाव धारण करो छोड़ो सभी विकल्प।

भजो अकर्त्ताभाव को हो जावो अविकल्प ॥ २॥